अस्मिता क्या और क्यों

प्रफुल्ल कोलख्यान

ओ पृथ्वी, लौटा दो मुझे अपने ख़ालिस तोहफ़े,
खामोशी की वे मीनारें जो उठी थीं
अपनी जड़ों की महानता से :
जाना चाहता हूँ वह बनने जो मैं नहीं हूँ,
वापस जाकर उतनी गहराई से सीखने
चाहे तमाम प्राकृतिक चीजों के बीच
मैं जी सकूँ या न जी सकूँ : कोई बात नहीं
एक और पत्थर होना, वह काला पत्थर
वह ख़ालिस पत्थर जिसे ले जाती है नदी अपने साथ।[1]

- पाब्लो नेरूदा

चारो तरफ कोलाहल बढ़ रहा है। बढ़ते हुए कोलाहल से आक्रांत संवेदनशील मन अपनी जड़ों की महानता से उठी खामोशी की मीनारों को पृथ्वी से खालिस तोहफे के रूप में माँगता है। मन जाना चाहता है वह बनने जो नहीं है, वह! सभ्यता विकास के विभिन्न चरणों पर व्यक्ति और समुदाय के जीवन में इस तरह के दौर आते ही रहते हैं, जब अपनेपन और परायेपन की नई-नई और कई-कई परिधियाँ खींचनी पड़ती है। आज पूरी दुनिया में आत्मीयकरण और अनात्मीयकरण की प्रक्रिया तेज हो रही है। इस प्रक्रिया में 'जड़ों' और

'पहचानों' के प्रसंग नये सिरे से महत्त्वपूर्ण हुए हैं। इस प्रसंग में सजाई जा रही 'रणभूमि' में 'मातृभूमि' और 'कर्मभूमि' को 'पितृभूमि' और 'पूण्यभूमि' से विस्थापित करने की कसरत जारी है। 'पहचान' और 'अस्मिता' के बारे में आम धारणा यह है कि इसका अनिवार्य संबंध सामाजिक असुरक्षा के भावबोध से होता है। सामाजिक असुरक्षा का सबसे अधिक भय समाज के हाशिए पर होता है। स्वभावत: 'पहचान' और 'अस्मिता' की तीखी आवाज भी समाज के हाशिए से ही उठती है। चूँकि ये आवाज हाशिए से उठती है इसलिए समाज की मुख्य-धारा से इसका संबंध नहीं होता है, बौद्धिक एवं अकादेमिक स्तर पर चाहे भले ही मुख्य-धारा के लोग इसके साथ अपनी कितनी भी सहानुभूति क्यों न रखते हों। इस आम धारणा की अंतर्वस्तु में इधर तेजी से बदलाव आया है। इसके पीछे कई कारण हैं। सामाजिक असुरक्षा का कँटीला भय समाज के प्रत्येक स्तर पर अंतर्व्याप्त है।

अ-सामाजिक होते समय में सामाजिक पदानुक्रमता के प्रत्येक पायदान पर अवस्थित व्यक्तियों और समुदायों को सामाजिक सुरक्षा की जरूरत होती है। शोषण एवं भेदभाव के विभिन्न स्तरों के होते हुए भी गाँव लोगों के लिए लगभग 'सुरक्षित' एवं 'सुनिश्चित' वास-स्थान थे। औद्योगिक पूँजी की सक्रियता से समाज की संरचना में व्यापक परिवर्तन आया। लोग बाहर औद्योगिक केंद्रों में जमा होने लगे। गाँवों को औद्योगिक सभ्यता अपने कार्मिकों के 'परमानेंट ठिकाना' के रूप में चिह्नित करती रही है। औद्योगिक केंद्र और उनके आस-पास गाँवों से आये इन कार्मिक लोगों का नया और 'अस्थायी ठिकाना' बना। औद्योगिक पूँजी की सक्रियता से लोगों को दोहरी पहचान मिलनी शुरू हुई। यह दोहरी पहचान थी— एक 'परमानेंट' और एक 'अस्थायी'! 'परमानेंट पहचान' में धर्म, जाति, गोत्र, नस्ल, क्षेत्र, भाषा जैसे तत्त्व अधिक अर्थवान थे। 'अस्थायी पहचान' में इन सबसे निरपेक्ष पद, कौशल, शिक्षा, आर्थिक-स्थिति जैसे तत्त्व अधिक सुग्राह्य थे। औद्योगिक विकास और सामाजिक प्रगतिशीलता की नजर से 'परमानेंट पहचान' के ये सारे 'अर्थवान' तत्त्व निरर्थक ही नहीं बल्कि अधिकांश में अनर्थक भी थे। 'अस्थायी पहचान' के तत्त्व अधिक महत्त्वपूर्ण थे। खासकर, दलित और स्त्री के लिए परंपरिक एवं परमानेंट 'पहचान' और 'अस्मिता' के बरक्स आधुनिक एवं अस्थायी 'पहचान' और 'अस्मिता' अधिक अर्थवान थी। इस अधिक अर्थवान 'पहचान' और 'अस्मिता' का संबंध सामाजिक एवं धार्मिक सुधार से भी बहुत ही गहरा था।

इतिहास बताता है कि भारत में राष्ट्रवाद सामाजिक एवं धार्मिक सुधार के अनुवर्ती बोध के रूप में विकसित हुआ। जहाँ-जहाँ जिस पैमाने पर सामाजिक एवं धार्मिक सुधार संपन्न हुए वहाँ-वहाँ उतने ही निखरे रूप में राष्ट्रवाद का भी विकास हुआ। यह राष्ट्रवाद भी पहचान का एक आधार प्रस्तुत

करता है– औपनिवेशिक एवं अन्य प्रकार के शोषणों को जारी रखने के लिए भी और इन शोषणों से मुकम्मल मुक्ति-संघर्ष को चलाने और चलाये रखने के लिए भी। ध्यान में रखना होगा कि 'पहचान' और 'अस्मिता' न तो एकरेखीय होते हैं न एक आधारीय इसलिए कई बार इनकी ये बहुरेखीयताएँ और बहुआधारीयताएँ आपस में, एक-दूसरे को प्यार करती हैं, मजबूत बनाती हैं तो एक-दूसरे से टकराती भी हैं और एक दूसरे का शोषण भी करती हैं। प्रसंगवश, याद किया जा सकता है कि राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के समय दलित और कदाचित स्त्री के प्रसंग में जब भी मुक्ति और हक की हूक उठी, उसे राष्ट्रीय मुक्ति-आंदोलन के साथ ही नत्थी करके देखा गया। माना और बताया गया कि राष्ट्र की मुक्ति के बाद मुक्तियों और हकों के ये सारे सवाल स्वत: हल हो जाएँगे। विश्वास दिलाया गया कि राष्ट्र के मुक्त हो जाने पर सब की मुक्ति हो जायेगी। इस विश्वास पर थोड़ा-सा भी शक करनेवाले को सीधे-सीधे राष्ट्रविरोधी घोषित किया गया, जहाँ घोषित रूप से राष्ट्रविरोधी नहीं भी कहा गया, वहाँ भी मुख्यधारा ने व्यावहारिक रूप में इसे राष्ट्रविरोधी ही माना। अपने ही राष्ट्र की बहुत बड़ी आबादी को व्यावहारिक स्तर पर राष्ट्रविरोधी मानकर विकसित और संचालित हुए इस राष्ट्रवाद ने बाह्य औपनिवेशिक शक्तियों से राष्ट्र-मुक्ति के लिए संगठित होने का व्यापक और मानवीय आधार प्रदान किया तो इसी राष्ट्रवाद के अंतर्गत जाने-अनजाने आंतरिक औपनिवेशिक शक्तियों के वर्चस्व को कायम रखने के लिए संकुचित एवं अमानवीय सामाजिक एवं राजनीतिक मृग-छल के बनने के लिए भी स्पेस बनता गया। यह छल देश की बहुसंख्यक जनता की वास्तविक मुक्ति के अनिवार्य प्रसंग के साथ हुआ। अल्पसंख्यकों की हालत भी अच्छी नहीं थी। विपिनचंद्र जिसे 'स्थानापन्न राष्ट्रवाद' कहते हैं उसकी अपनी ऐतिहासिक जरूरतों के अंतर्गत मुसलमानों को जिस सांस्कृतिक प्रताड़ना का विषय बनाया गया उसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया यह हुई कि भारतीय राष्ट्रवाद के भीतर द्विराष्ट्रीयता की विभाजनकारी वैधता के लिए जगह बन गई। राष्ट्रवाद के विकास के राजनीतिक सच का यह स्थूल और भौगोलिक विभाजन तो ऊपरी तौर पर साफ-साफ दिख जाता है। राष्ट्रवाद के विकास के राजनीतिक सच के सूक्ष्म और आंतरिक विभाजन का भीतरी पक्ष उतनी स्पष्टता से दीखता नहीं है। आंतरिक विभाजन का अदृश्य सच आज भी खतरनाक हद तक सक्रिय है। नतीजा यह हुआ कि सामाजिक और धार्मिक सुधार की आधी-अधूरी परियोजनाओं पर राष्ट्रवाद की सवारी लद गई। जहाँ सामाजिक और धार्मिक सुधार की ये परियोजनाएँ अभी ठीक से शुरू भी नहीं हुई थीं, वहाँ इस राष्ट्रवाद ने राष्ट्रीय-मुक्ति की जल्दबाजी में विपरीत सामाजिक प्रवृत्तियों के साथ भी सहमति का संसार रचने से परहेज नहीं किया। हमारा अनुभव बताता है कि नत्थीकरण की इस प्रक्रिया में पड़कर 'जनराष्ट्रवाद' के उदय की उज्ज्वल संभावनाएँ निरंतर धूमिल होती चली गईं।

भारत में जिस समय उपनिवेश मुक्त होने की प्रेरणाओं से ऐतिहासिक हकीकत के रूप में राष्ट्रवाद का उदय हो रहा था, उसी समय उसके सामाजिक स्वप्न में समतामूलक विश्ववाद के लिए भी प्रभावी जगह बन रही थी। साहित्य आकांक्षाओं और सपनों के पुष्पित-पल्लवित होने के लिए सबसे अधिक उपयुक्त जगह है। उस समय के महत्त्वपूर्ण साहित्य में राष्ट्रवाद और विश्ववाद की अंतर्क्रिया और अंतर्मेल का अद्‌भुत भाव-सामंजस्य मिलता है। एक बात यहाँ ध्यान में रखने की है कि भारत में यह सब औपनिवेशिक वातावरण में हो रहा था। यह स्वीकार कर लेने में किसी तरह की कठिनाई नहीं हो सकती है कि औपनिवेशिक अभिशाप के दुष्प्रभाव से न तो ऐतिहासिक हकीकत बचता है, न हक और न सामाजिक स्वप्न। ऐसे वातावरण में राष्ट्रवाद और विश्ववाद दोनों के विकलांग हो जाने का खतरा तो रहता ही है! भारत में राजनीतिक, सांस्कृतिक और स्थानापन्न राष्ट्रवाद के तत्त्व कमोवेश एक साथ सक्रिय हो गए। जैसा कि पहले भी संकेत किया गया है, अपनी अस्मिता को लब्ध करनेवाले राष्ट्रवाद का उदय राजनीतिक आंदोलन के अलावे सामाजिक एवं धार्मिक सुधार आंदोलन के भी एक परिणाम के रूप में हुआ। जहाँ-जहाँ सामाजिक सुधार के आंदोलन और उसकी परियोजनाएँ जितनी परिपक्वता के साथ संपन्न हुईं वहाँ-वहाँ राष्ट्रवाद के भी सारे तत्त्वों में उभार आया। बंगाल और महाराष्ट्र ऐसे दो महत्त्वपूर्ण क्षेत्र के रूप में चिह्नित हैं। इस ‘अस्मितोवाची राष्ट्रवाद’ की कई जटिलताएँ हैं। इन जटिलताओं की अनदेखी करना इतिहास के साथ न्याय नहीं है। इतिहास बताता है कि ‘फिर भी, जैसा कि बंग्ला और मराठी के दृष्टांतों से स्पष्ट है, विभिन्न भारतीय भाषाओं के राष्ट्रवादी साहित्य में कुछेक अस्पष्टताएँ भी दिखाई पड़ती हैं। इसकी वृत्ति राष्ट्रीय, प्रादेशिक एवं सांप्रदायिक चेतना को न्यूनाधिक एक साथ पोषित करने की थी। बंकिमचंद्र का सरोकार मूलत: बंगाल के इतिहास से था। वे बारंबार यही दोहराते रहे कि बंगाल ने अपनी स्वाधीनता बख्तियार खिलजी के कारण खोई थी, पलासी की लड़ाई में नहीं।..... इस प्रकार वह स्थिति उत्पन्न हुई जिसे विपिनचंद्र ने सही तौर पर ‘स्थानापन्न राष्ट्रवाद’ कहा है और कभी-कभी इसका औचित्य यह कहकर सिद्ध किया जाता है कि खुलेआम अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध लिखना खतरनाक हो सकता था (उदाहरण के लिए बंकिमचंद्र का सरकारी नौकरी में होना)। किंतु इस प्रकार के प्रहार के उद्देश्य से मुसलमानों का अंग्रेजों का स्थानापन्न बनाने के खतरनाक परिणाम ही हो सकते थे। स्वदेशी से संबद्ध हिंदू युवा वर्ग 1905 के बाद से बंकिमचंद्र को देवता मानने लगा था, किंतु बड़ी सीमा तक राष्ट्रवाद से सहानुभूति रखनेवाली ‘मुसलमान’ जैसी जैसी मुस्लिम पत्रिकाओं ने भी उन पर बारंबार आक्षेप किये किये क्योंकि उनकी अनेक रचनाओं में यवनों की निंदा की गई थी। मगर शीघ्र ही मुसलमान बुद्धिजीवी भी अपना अलग किस्म का

स्थानापन्न राष्ट्रवाद विकसित करने लगे जिसमें ठीक उन्हीं व्यक्तियों एवं कालखंडों को महिमामंडित किया गया था (उदाहरण के लिए औरंगजेब) जिनकी हिंदू निंदा करते थे। साथ ही यह इस्लाम के विगत गौरव के प्रति टीस भी उत्पन्न करता था।'[2] साफ है कि द्विराष्ट्रीयता के सिद्धांत का गहरा सरोकार इस 'स्थानापन्न राष्ट्रवाद' की कोख से है। इतना ही नहीं, यह 'स्थानापन्न राष्ट्रवाद' भाषाई आधार पर आंचलिक भावनाओं या उप-राष्ट्रवाद के विकास के लिए भी जमीन तैयार करता था। इसलिए, 'इस काल का अंतिम महत्त्वपूर्ण लक्षण था— भाषाई आधार पर आंचलिक भावनाओं का विकास। ये भावनाएँ कभी-कभी उन युवाओं के लिए अधिक नौकरियों की माँग से जुड़ी होती थीं जो अपेक्षाकृत साधनहीन वर्ग से संबद्ध होते थे, किंतु प्राय: ये अधिक गहरी जड़ें पकड़ लेती थीं और विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं सशक्त साहित्यिक एवं सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के रूप में अभिव्यक्त होती थीं।'[3]

भाषाई आधार पर आंचलिक भावनाओं के विकास के साथ रोजगार के अवसरों के संबंध का यह क्रम आज भी जारी है। उदारीकरण-निजीकरण- भूमंडलीकरण (उनिभू) के प्रताप से आज आर्थिक क्रियाकलाप की वृद्धि में रोजगार-निषेध की प्रवृत्ति काम कर रही है। ऐसे में, भाषाई आधार पर आंचलिक भावनाओं के ही नहीं, सांप्रदायिक भावनाओं के भी उभार की लू बह रही है। यह 'गर्म हवा' अभी आँधी तो नहीं बनी है लेकिन इसमें धीरे-धीरे तीव्रता आ जाने की आशंकाएँ भी निर्मूल नहीं हैं। अभी असम में जो कुछ हुआ, उसके संकेत बहुत ही खतरनाक हैं। असम ही नहीं देश की आर्थिक राजधानी मानी जानेवाली मुंबई भी इस 'गर्म हवा' के प्रभाव से बाहर नहीं है। कुल मिलाकर यह कि पूरब से पश्चिम तक इस 'गर्म हवा' की आँच राष्ट्रीय संदर्भों को झुलसा रही है। उत्तर-दक्षिण दिशा से भी देर-सबेर ऐसे ही संकेत फिर से उभर सकते हैं। ये सारे संदर्भ हमारी राष्ट्रीयता की सांस्कृतिक एकता को तोड़ते हैं। यह टूटन और अधिक तेज हो जाती है, जब हम इसे एकपक्षीय आग्रहों से समझने और समझाने की कोशिश करते हैं। समस्या की बहुपक्षीयता पर से पकड़ छूट जाने पर 'हम' और 'अन्य' के बीच तीखी विभाजक रेखाएँ खींचनी शुरू हो जाती है। इन विभाजक रेखाओं के कारण शुरू होती है, विभिन्न रूप-रंग की सांप्रदायिकताएँ। जैसे, भाषाई सांप्रदायिकता! क्या है यह भाषाई सांप्रदायिकता? 'किसी भ्रम से बचने के लिए हमें स्पष्ट कर देना चाहिए कि हम भाषाई सांप्रदायिकता से क्या समझते हैं। एक समान भाषा बोलनेवाले लोगों के समूह की चेतना, जिसे वे अलग समुदाय बनाते हैं, स्वाभाविक और उपयुक्त है। किंतु यदि उनमें वह भावना निहित हो जाती है, कि उसी क्षेत्र या पास के क्षेत्र में रहनेवाले देश के वे लोग जो भिन्न भाषा बोलते हैं, शब्द के सबसे अनुचित अर्थ में बाहरी हैं, और उनके साथ उसी तरह

का व्यवहार करना चाहिए, तब वह भाषायी सांप्रदायिकता का भद्दा रूप बन जाता है...।'[4] पूरे भारत के संदर्भ में राष्ट्रीय, स्थानापन्न राष्ट्रीय, उप-राष्ट्रीय या आंचलिक मनोभाव के नाना रूपविधानों में एक सामान्य तथ्य की ओर ध्यान सहज ही चला जाता है कि, चाहे राजनीतिक स्तर पर हो या सामाजिक और सांस्कृतिक स्तर पर ही क्यों न हो, कमोवेश सभी जगह ब्राह्मणवाद और पूँजीवाद के अलग-अलग और समन्वित दुष्प्रभाव बहुत ही खतरनाक रहे हैं। स्वाभाविक ही है यह सोचना कि 'इस देश के दो दुश्मनों से कामगारों को निपटना होगा। ये दो दुश्मन हैं, ब्राह्मणवाद और पूँजीवाद...। ब्राह्मणवाद से मेरा आशय स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व की भावनाओं के निषेध से है। यद्यपि ब्राह्मण इसके जनक हैं, लेकिन यह ब्राह्मणों तक ही सीमित नहीं होकर सभी जातियों में घुसा हुआ है।'[5] टाइम्स ऑफ इंडिया, 14 फरवरी 1938 की इस रिपोर्ट के अनुसार ब्राह्मणवाद और पूँजीवाद से निपटने के लिए, वर्गीय आधार पर कामगारों की बन रही 'अस्थायी पहचान' ही अस्मिता के संघटन एक मात्र वैध आधार हो सकती थी। इस वैध आधार को अधिक उर्बर होना चाहिए था। लेकिन, ऐसा नहीं हो सका! कारण बहुत सारे हैं। असल में यह 'अस्थायी पहचान' समाज के बहुत छोटे-से हिस्से को मिली थी। उस पर से यह भी कि इस छोटे-से तबके ने भी उसे प्रसन्नतापूर्वक स्वीकारा नहीं था, बल्कि किसी तरह ओढ़े रहने पर राजी हुआ था।

अस्मिताओं के संदर्भ को जरूरी माननेवाले 'हम' अकेले नहीं हैं। अस्मिता तलाश के संदर्भ पहली बार प्रकट नहीं हुए हैं। एक अर्थ में ऐतिहासिक रूप से राष्ट्रवाद— चाहे वह 'राजनीतिक राष्ट्रवाद' हो या 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' हो या 'स्थानापन्न राष्ट्रवाद' ही क्यों न हो— की आकांक्षाओं का जन्म और पोषण भी अस्मिता तलाश के इन संदर्भों से होता रहा है। इतिहास बताता है कि 1775 में पोलेंड के पहले विभाजन और 1776 में अमेरीकी स्वतंत्रता की घोषण के साथ राष्ट्रवाद की चेतना का अभ्युदय होता है। 1789 से 1792 तक की फ्रांसिसी क्रांति में इसकी मूल आकांक्षा प्रकट हुई। यह मूल आकांक्षा थी— समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व। ध्यान में रखने की बात यह है कि फ्रांसिसी क्रांति की मूल आकांक्षा के संदर्भ में समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व अविच्छेद्य हैं। ये तब भी अलग-अलग हासिल नहीं किये जा

सकते थे और न आज ही अलग-अलग हासिल किये जा सकते हैं। यह मानने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि फ्रांसिसी क्रांति की मूल आकांक्षा में निर्विशिष्ट मानव जाति की मूल आकांक्षा ही मुखरित हो रही थी। अविच्छेद्य बंधुत्व-स्वतंत्रता-समता का व्यवच्छेदन भी इस समय प्रकट होने लगा। असहमति के संतुलित विवेक का तकाजा है कि डॉ. आंबेडकर के 'बुद्ध और कार्ल मार्क्स' के इस निष्कर्ष को महत्त्वपूर्ण माना जाये कि 'समाज की नई आधारशिला फ्रांसिसी क्रांति के तीन शब्दा बंधुत्व, स्वतंत्रता और समता में समाहित है। फ्रांसिसी क्रांति का स्वागत इसी संकल्प के कारण हुआ। यह समता लाने में विफल रही। हमने रूसी क्रांति का स्वागत किया क्योंकि यह समता लाने का लक्ष्य रखती थी। लेकिन समता लाने के नाम पर समाज बंधुत्व और स्वतंत्रता का कुर्बान नहीं कर सकता है। बिना भाईचारा और स्वतंत्रता के समता का कोई मोल नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन तीनों को एक साथ सिर्फ बुद्ध के अनुसरण से ही हासिल किया जा सकता है। साम्यवाद एक दे सकता है, सब नहीं।'[6] ऐसा प्रतीत होता है कि डॉ. आंबेडकर ऐतिहासिक दबाव को झेलते हुए समता-स्वतंत्रता-बंधुत्व की अविच्छेद्यता और इसके आर्थिक प्रसंग के पूरे संदर्भ को ठीक से पकड़ नहीं पाये। 1938 तक साम्यवाद का कोई सघन भारतीय अनुभव तो था नहीं! हाँ एक अनुमान जरूर था। अनुमान ज्ञान का स्थानापन्न नहीं हो सकता है। बौद्ध दर्शन और अनुसरण का भारतीय अनुभव तो शताब्दियों का है। इस अनुभव में ब्राह्मणवाद के जीवित रहने का अनुभव भी शामिल है! डॉ. आंबेडकर के इस आग्रह को यथोचित सम्मान के साथ ही यह भी ध्यान में रखा जाना चाहिए कि 'ऐतिहासिक रूप से एक सामन्य भारतीय संस्कृति का अस्त्वि कभी नहीं रहा है। ऐतिहासिक रूप से भारत तीन रहा है, ब्राह्मण भारत, बौद्ध भारत और हिंदू भारत। इन तीनों की अपनी अलग-अलग संस्कृति रही है। .... यह बात भी माननी होगी कि मुसलमानों के वर्चस्व के पहले ब्राह्मणवाद और बौद्धवाद के बीच गहरे नैतिक संघर्ष का भी इतिहास रहा है।'[7] मुसलमानों के वर्चस्व के पहले के ब्राह्मणवाद और बौद्धवाद के बीच के गहरे नैतिक संघर्ष का बाद में क्या हुआ? इतिहास बताता है कि मुसलमानों के वर्चस्व के बाद यह नैतिक संघर्ष सामाजिक सुधार की ओर बढ़ने लगा। हिंदी साहित्य के भक्तिकाल की मुख्य प्रेरक शक्ति की नाभिकीय संरचना में परलोक नहीं लोक का वास था। यह चेतना धर्म को अधिकाधिक लोकाभिमुख बनाने के लिए सक्रिय थी। इसमें धर्म के नाम पर जारी कूपमंडूकताओं से बाहर निकलने के लिए समाज-सुधार के पक्ष में और ब्राह्मणवाद के विरोध में संवेदनशील स्वर का आधिक्य मिलता है; सगुणियों और निगुर्णियों में इस स्वर की गुणवत्ता और मात्रात्मकता में अंतर के बावजूद यह सच है। इस मध्यकालीन स्थिति में राष्ट्रवाद का कोई प्रसंग तो नहीं था और न विश्ववाद का ही कोई प्रसंग था। लेकिन आधुनिककाल तक की इतिहास यात्रा करते हुए देखा जा सकता है कि

1880 के पहले तक 19वीं सदी में हिंदू और मुसलमान के बीच सांप्रदायिक संघर्ष नहीं थे। बल्कि ये अपने भीतर के सुधार के लिए अधिक प्रयत्नशील थे। सोवियत संघ की स्थापना के साथ एक सर्वथा नई और शोषण मुक्त एवं न्यायपूर्ण मानवीय विश्व-व्यवस्था की पुरजोर संभावनाएँ सामने आईं। इस सर्वथा नई और शोषण मुक्त एवं न्यायपूर्ण मानवीय विश्व-व्यवस्था के हकीकत से जनमे सामाजिक स्वप्न में मनुष्य के प्रति सरोकार के गुणसूत्र राष्ट्रीय अस्मिता या राष्ट्रवाद की प्रेरणाओं से मुक्त थे। आत्मीयकरण के लिए राष्ट्रीय की जगह वर्गीय आधार का महत्त्व सामने आया। इस वर्गीय आधार को ध्वस्त करने में राष्ट्रवाद के कुत्सित रूप का उपयोग हुआ। राष्ट्रवाद का कुत्सित रूप शोषक और शोषितों के हितों के अंतर को भावुकता के अंतर्लेप से आच्छादित करते हुए व्यक्तियों और समुदायों को अतार्किकता के वैचारिक दलदल में ले जाकर उनके हितों की हत्या करता है। इसका जन्म इतिहास की गलत व्याख्याओं के सहारे उनके अपने वर्ग-स्वार्थ को साधे रखने की आकांक्षा से होता है। ऐसा राष्ट्रवाद पूँजीपति वर्ग के आर्थिक विकास को देश का आर्थिक विकास मानता है। आर्थिक विकास के संतुलित वितरण के सामाजिक न्याय के नैतिक और मानवीय प्रसंग को ओझल कर देता है। इतना ही नहीं पूँजीपति वर्ग के आर्थिक विकास की वेदी पर देश के आर्थिक विकास को भी न्यौछावर करता चलता है। हमारा सांप्रतिक और ऐतिहासिक अनुभव दोनो ही यह कहता है कि राष्ट्रवाद के कुत्सित रूपों ने अस्मिता के वास्तविक आधार के रूप में वर्गीय चेतना को हमेशा ही ध्वस्त किया है। लेकिन इससे राष्ट्रवाद के जनहितकारी रूप के प्रति दुराव का आना भी ठीक नहीं है। ऐतिहासिक अनुभव तो यह भी है कि राष्ट्रवाद के जनहितकारी रूप रूप का समय पर उपयोग नहीं करने के कारण ही इसका कुत्सित रूप इतना दुष्प्रभावकारी बन पाया। असल में तत्काल का हुए बिना कालातीत होना या देश का हुए बिना देशातीत होना असंभव होता है। सभ्यता के प्रवाह में पुराने पानी को उतारना और नये पानी को चढ़ाना एक जिटल प्रक्रिया है। 'परमानेंट पहचान' के धर्म, जाति, गोत्र, नस्ल, क्षेत्र, भाषा जैसे अबांछित पारंपरिक तत्त्वों को अवहेलित करते हुए और इन सबसे एकदम निरपेक्ष होकर 'अस्थायी पहचान' के पद, कौशल, शिक्षा, आर्थिक-स्थिति जैसे बांछित प्रगति-तत्त्वों का आत्मारोपण इतना आसान नहीं होता है। परंपरा के अबांछित किंतु जीवंत तत्त्वों को अवहेलित नहीं, बल्कि अंतर्वेधित करते हुए ही प्रगति-तत्त्वों का आत्मार्जन संभव होता है। अंतर्वेधन की यह संक्रमण-प्रक्रिया ही परंपरा के साथ प्रगति के न्याय की नियामिका है। संक्रमण से गुजरे बिना क्रांति बहुत लंबी छलांग हो जाती है। सफलतापूर्वक इतनी लंबी छलांग लगाना अक्सर असंभव ही होता रहा है। राष्ट्रवाद के अंतर्वेधन के पश्चात ही विश्ववाद की ओर बढ़ा जा सकता है और अस्मिता के वर्गीय आधार को हासिल किया जा सकता है। स्वभाविक है कि आज की परिस्थिति में अस्मिता के वर्गीय और राष्ट्रीय समझ में समन्वय एक दुर्निवार ऐतिहासिक जरूरत है। ऐसा इसलिए भी कि आज बहुराष्ट्रीय पूँजी का आवारापन राष्ट्रीय संप्रभुताओं को रौंदता हुआ पूँजी को वैश्विक आयाम का विस्तार और मनुष्य को ग्रामीय आधार का संकोचन प्रदान करता है। पूँजी का विश्व और मनुष्य का ग्राम,

यही तो है विश्व-ग्राम ! इस ऐतिहासिक जरूरत को ठीक से समझें तो यह बात बिल्कुल ही विचित्र नहीं लगेगी कि क्यों, 'पूँजीवाद एक ओर भूमंडलीकरण के माध्यम से विश्व बाजार कायम कर रहा है और स्वयं यहाँ कम्युनिस्ट राष्ट्रवादी होते जा रहे हैं।'[8]

अस्मिता है क्या? क्या यह संस्कृत भाषा का कोई पारिभाषिक पद है? 'अस्मिता देखने में संस्कृत का शब्द लगता है लेकिन है नहीं। यह अंग्रेजी के आइडेंटिटी का हिंदी अनुवाद मान लिया गया है। संस्कृत में इसका अर्थ है– अहंकार। अस्मिता में अहं है– अहं अस्मि। मेरी जानकारी में हिंदी में 1950 के आसपास अज्ञेय जी ने आइडेंटिटी के अर्थ में 'अस्मिता' चलाया। संस्कृत के अर्थ से यह भिन्न है। इस व्यक्तिवादी अर्थ से अलग मार्क्सवाद में अस्मिता का दूसरा रूप है। यहाँ 'जन' में अपने व्यक्तित्व के विलय का प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। यदि आप मध्यवर्ग के हैं तो अपने वर्ग को छोड़कर खुद को सर्वहारा वर्ग के साथ आइडेंटीफाई कीजिये। तो यह माना जाता था कि कवि अपनी अस्मिता का निषेध करता है, अहंकार को छोड़कर वह जन का होता है। इस प्रगतिशील धारणा के विरुद्ध व्यक्ति की अस्मिता पर बल दिया। उन्होंने 'हम नदी के द्वीप हैं' शीर्षक कविता भी लिखी, उपन्यास भी लिखा। अस्तित्ववाद के साथ आनेवाले एक विशेष प्रकार के व्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा के रूप में सन् 1950-51 के आसपास यह शब्द आया। इस नाते हिंदी में अस्मिता का ऐतिहासिक अर्थ है– व्यक्तिवाद।... राष्ट्रीय आंदोलन ने कहा कि वर्गों की, जातियों की पहचान की हमारी जो अलग-अलग लड़ाई है वह राष्ट्रीय मुक्ति का अंग है। पहले राष्ट्र मुक्त होगा तभी उसके जितने अंग हैं, वे भी मुक्त होंगे, दलित भी मुक्त होंगे। बाबा साहेब आंबेडकर ने कहा कि राष्ट्र मुक्त हो जायेगा तब भी जरूरी नहीं कि हम मुक्त होंगे।... अस्मिता, एक समूह के रूप में दलित की अपनी अस्मिता अलग है। इसलिए अस्मिता शब्द को स्वीकार करते समय उससे संबद्ध ऐतिहासिक अर्थों को हमें ध्यान में रखना चाहिए। अब इधर इन दोनों घटनाओं के लगभग तीस वर्ष बाद 1970-75 के दशक से हिंदी में, बल्कि उत्तर आधुनिकता के चलते एक नये अर्थ में अस्मिता का प्रयोग हुआ है।'[9] मानना होगा कि आज के सामाजिक रूप से असुरक्षित समय में अस्मिता के सवाल का अपना औचित्य है। वैश्विक स्तर पर जिन कारणों से सामाजिक असुरक्षा के इस वातावरण में अस्मिता का औचित्य नये सिरे से बना है, उन कारणों के प्रति उत्तर आधुनिक में बहुत ही उदारता रही है। विडंबना यह कि इस औचित्य के संदर्भ में उठ खड़े नव-सामाजिक आंदोलनों को भी उत्तर आधुनिकता भरमा रही है। नव-सामाजिक आंदोलनों की खासियत यह है कि ये अस्मिता के सवाल को तो उठाते हैं, लेकिन उसके वर्गीय आधार को नकारते हैं। बल्कि ये अपने को

सामाजिक दायरे के नाम पर आर्थिक और राजनीतिक प्रसंग को अपने लिए निषिद्ध ही मानते हैं। ये सामाजिक स्वायतत्ता की बात तो करते हैं, लेकिन इसे राजनीतिक प्रसंग नहीं मानते। आर्थिक प्रसंग नहीं मानते, राजनीतिक प्रसंग नहीं मानते तो फिर बचता क्या है? सांस्कृतिक आधार! सांस्कृतिक आधार के मतलब धर्मीय, जातिवादी, पारंपरिक और नस्लीय आधार आदि! यानी पहचान के पूर्व आधुनिक या आधुनिकता विरोधी आधार! कहना न होगा कि अस्मिता की तीव्र आकांक्षा के भँवर में व्यक्तियों और समुदायों को फेंककर उसे गलत दिशा में बहा ले जाने के लिए बचाव-रस्सी फेंकती है उनिभू की विभिन्न प्रक्रियाएँ और उसकी सांस्कृतिक चेतना की उत्तर आधुनिक परियोजनाएँ और उन्हें गलत घाट पर किनारे लगाती हैं। हमें सावधान रहना होगा कि कहीं जिस प्रकार राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन के समय कई जरूरी सामाजिक प्रसंगों को राष्ट्रवाद के ही किन्हीं-न-किन्हीं रूपों से नत्थी करके छला गया था उसी प्रकार एक बार फिर विकास के नाम पर उनिभू की परियोजनाएँ उसे छल न लें।

कहा जा सकता है कि अस्मिता का प्रश्न समकालीन दुनिया में लगभग सर्वथा नये प्रसंग के साथ उपस्थित हुआ है। इस सर्वथा नये प्रसंग को जानना भी नये सिरे से होगा। संयोजन और विभाजन या दूसरे शब्दों में कहें तो विभिन्न संदर्भों से 'मम' और 'ममेतर' की परिधियाँ सभ्यता के पटल पर निरंतर बनती मिटती रहती है। इन में से कुछ परिधियाँ अधिक समय तक टिकती हैं और कुछ परिधियाँ त्वरित संकुचन और त्वरित विस्तरण की प्रक्रिया से गुजरती रहती है। इनमें से कुछ परिधियों का संबंध मनुष्य की आत्मनिष्ठ चेतना से होता है तो कुछ का वस्तुनिष्ठ चेतना से होता है। आत्मनिष्ठ चेतना का गहन संबंध मनुष्य की वैयक्तिक और अंतर्वैयक्तिक स्मृतियों, संस्कृति के विभिन्न उपादानों, सामाजिक आकांक्षाओं एवं स्वप्नों से होता है और वस्तुनिष्ठ चेतना का का गहन संबंध देशकाल, भौगोलिक परिस्थितियों, भौतिक उपलब्धियों, आर्थिक गतिविधियों एवं राजनीतिक प्रक्रियाओं से होता है। आत्मनिष्ठ चेतना 'भाव' के रूप में और वस्तुनिष्ठ चेतना 'ज्ञान' के रूप में अभिव्यक्त होती है। इसलिए, यह ध्यान में रखने की जरूरत है कि यद्यपि आत्मनिष्ठ चेतना और वस्तुनिष्ठ चेतना एक दूसरे से पूर्ण स्वायत्त और पूर्ण स्वतंत्र लगती है लेकिन आत्मनिष्ठ चेतना का विकास वस्तुनिष्ठ चेतना की अंतर्वर्त्ती प्रक्रिया के रूप में होना ही स्वाभाविक होता है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल को दुहराते हुए कहा जा सकता है कि सभ्यता के अब तक के विकास-क्रम में 'ज्ञान प्रसार' के भीतर ही 'भाव प्रसार' होता आया है। यह सभ्यता विकास की स्वाभाविक और अग्रगामी गति है। सभ्यता की स्वचालित अंर्तक्रिया में अग्रगामी और प्रतिगामी प्रवृत्तियों का द्वंद्व सदैव जारी रहता है। प्रतिगामी शक्तियों में 'भाव प्रसार' के भीतर ही 'ज्ञान प्रसार' को सीमित कर देने की तीव्र प्रवणता होती है। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया इस प्रतिगामी प्रवणता का इस्तेमाल करते हुए

सभ्यता विकास की स्वाभाविक गति को पलट देना चाहती है। सभ्यता के मूलार्थ में समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व के विकास एवं व्यवहार के लिए सांस्कृतिक पर्यावरण के निर्माण की दिशा में बढ़ने की गति ही सभ्यता विकास की स्वाभाविक गति होती है । यह गति निर्बाध कभी नहीं रही है। 'मम' और 'ममेतर' की परिधियाँ भी लगातार सक्रिय रही हैं। कुल मिलाकर समग्र मानवीय सभ्यता के इतिहास में अब तक संतोष की बात यह जरूर रही है कि इसमें 'मम' की परिधि सभ्यताओं की विभाजक रेखाओं को अतिक्रमित करते हुए बढ़ रही थी और 'ममेतर' की परिधि घट रही थी। सभ्यताओं की पुरानी विभाजक रेखाएँ इस अग्रगामिता को रोक नहीं पा रही थी। क्योंकि 'सभ्यताओं के टकरावों' की चाहे जितनी मनौतियाँ मनाई जाये, सच तो यह है कि सभ्यताओं का स्वभाव पारस्परिक टकराव का नहीं अपनाव का ही होता है। यह अलग बात है कि अपनाव का यह रास्ता कभी-कभी टकराव के बीच से निकलता है। इसलिए, वैश्विक स्तर पर मानवीय सभ्यता की समकालीन चर्या विभाजन की पुरानी परिधियों को निरस्त कर नई परिधियाँ खींच रही है। ये टकराव में अंतर्निहित अपनाव को रोकना चाहते हैं और अपनाव में अनुपस्थित टकराव को लाना और बढ़ाना चाहते हैं! इसके लिए 'मम' और 'ममेतर' की नई परिधियाँ तैयार की जा रही हैं। आज की तारीख में अस्मिता का प्रश्न 'मम' और 'ममेतर' की इन परिधियों से उपजता और टकराता है। 'मम' और 'ममेतर' की इन परिधियों के इस प्रतिगामी नवोत्थान के पहले परिधियों की पुरानी रेखाओं की वक्रताओं को समझना अस्मिता-विमर्श का एक जरूरी प्रसंग है। एक बात और जब हम अस्मिताओं के संदर्भ पर गंभीरता से बात करते हैं तो हमें किसी भी प्रकार के सैद्धांतिक दुराग्रहों से थोड़ा बचना चाहिए और सामाजिक आकांक्षाओं के कारणों को सहानुभूतिपूर्वक समझने का प्रयास करना चाहिए। डॉ. नामवर सिंह के शब्दों में कहें तो, 'सबाल्टर्न ग्रुप के प्रति छोटे-छोटे सामाजिक समुदायों के, वर्गों के, समाज के जो हिस्से अपनी पहचान के लिए लड़ रहे हैं, उनके प्रति हमारा रुख आक्रामक नहीं होना चाहिए। पहचानने की, समझने की जरूरत है कि क्यों, किन परिस्थितियों में ये हमारे साथ नहीं हैं।'[10] यह भी कि किन परिस्थितियों में हम किनके साथ नहीं हैं। वैसे, सच तो यह है कि जिन्हें साबल्टर्न कहा जाता है, उन में बिखराव चाहे जितना हो उनका कुल सामाजिक योग छोटा नहीं है।

के सवाल आगे और तेजी से उठेंगे। अगर उन्हें ठीक से नहीं समझा गया तो वे और उलझेंगे ही। उत्तर आधुनिकता से समर्थित नव-सामाजिक आंदोलन सामुदायिक, सांप्रदायिक और अंतत: वैयक्तिक अलगाव में इन सवालों को हाँक कर ले जायेगा। ध्यान रखना चाहिए कि 'चूँकि सदियों तक सवर्ण लोगों ने करुणा, सहानुभूति दिखाते हुए एक मानवतावाद का शब्द लेकर यह काम किया। और जिसको कहते हैं न दूध का जला छाछ भी फूँककर पीता है। तो दूध का जला हुआ है यह वर्ग। यानी हमारे देश में स्त्री या दलित। पहले के अनुभव होंगे। कई लोगों ने केवल करुणा या सहानुभूति के कारण... भगवान को भी हमलोग करुणामयी ही समझते रहे। स्टीफेनजाइ की एक किताब है– 'वी वेयर ऑफ पिटी'। इसलिए दलित, स्त्री अगर कहती है कि मुझे दया नहीं चाहिए, ये मेरा हक है, तो अस्मिता का अर्थ है–- अस्मिता का हक। अस्मिता दया नहीं चाहती। अस्मिता हक चाहती है।... इतने आंदोलन हुए। समय-समय पर होते रहे, इतने लोग आये, कबीर आये, गाँधी आये, आंबेडकर आये फिर भी हमलोग इसकी चूल ढीली नहीं कर सके। बल्कि वह आज और भी मजबूत होती दिखाई पड़ रही है। उसके पीछे दूसरी ताकतें हैं।'[11] इन दूसरी ताकतों को बारबार समझना होगा। ये ताकतें बहुरुपिया हैं। ये ताकतें कभी अपनी मीठी मुसकान को आकश तक फैलाते हुए सांस्कृतिक राष्ट्रवाद के नाम पर मनोरम वितान खड़ी कर सकती हैं तो कभी अपने गुप्त सांप्रदायिक एजेंडे के तहत जनसंहार को भी राष्ट्रीय यज्ञ घोषित करती हुई मिल सकती हैं; एक ही घटना को अंतर्राष्ट्रीय संदर्भ में शर्मनाक और राष्ट्रीय संदर्भ में गर्व का विषय मान सकती हैं। इनके पैरोकार कभी विकास के नाम पर स्वतंत्रता को समृद्धि हासिल करने में बाधक बताते हुए बहुराष्ट्रीय उदारवाद के साथ विश्व-बाजार के फुटपाथ पर देश की बोली लगाते हुए भी मिल जा सकते हैं तो कभी घुटना-टेक संघर्ष की आभासी सफलता को अपनी स्वदेशी चेतना की परम उपलब्धि के रूप में प्रचारित कर सकते हैं। सामान्यत: सिक्के के दो पहलू होते हैं। इनके सिक्कों में लेकिन एक ही पहलू होता है! इसे हर रूप में पहचानने का कौशल अर्जित करना होगा। एक बात और। यह स्वीकारने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि किसी भी परिस्थिति में अस्मिता-विमर्श अपने आप में सत्ता-विमर्श भी होता है। जितनी प्रकार की सत्ताएँ उतनी ही प्रकार की अस्मिताएँ! दुहराव की चिंता न करते हुए कहना जरूरी है कि आज की तारीख में उत्तर आधुनिकता से संपोषित नव-सामाजिक आंदोलनों का अस्मिता-विमर्श, अपने को सामाजिकता से सीमित कर अपनी परिधियों में जन-पक्षीय राजनीतिक और आर्थिक प्रसंगों के लिए जगह नहीं छोड़ता है। यही क्या नव-सामाजिक आंदोलनों का राजनीतिक और अर्थनीतिक पक्ष भी नहीं

है! नव-सामाजिक आंदोलनों का अस्मिता-विमर्श अकादेमिक चिंताओं से संचालित है और असली अस्मिता विमर्श को भटकाकर निरर्थक बनाने के लिए अस्मिता-विमर्श का छल तैयार करता है। क्योंकि अंतत: नव-सामाजिक आंदोलनों का अस्मिता-विमर्श किसी भी प्रकार से अस्मिता के राजनीतिक और अर्थनीतिक संदर्भों को 'आत्मनिर्णय के पूर्ण अधिकार' या 'सार्वभौम स्वायतत्ता की माँग' तक फैलने का अवसर नहीं देता है। जबकि, अस्मिता के प्रत्येक रंग और रूप में राजनीतिक और अर्थनीतिक 'आत्मनिर्णय के अधिकार' या 'स्वायतत्ता' की सहज आकांक्षा होती है।

यह सच है कि आज 'हम' बहुत ही गंभीरता के साथ 'अस्मिता', बल्कि 'अस्मिताओं' के विभिन्न संदर्भों को समझना जरूरी मान रहे हैं। क्या इसे जरूरी माननेवाले 'हम' अकेले हैं या दूसरे 'हम' भी इसे उतना ही जरूरी मान रहे हैं? नहीं हम अकेले नहीं हैं। विभिन्न स्तर पर दुनिया के सभी समाज और समुदाय अस्मिताओं की नई आधारशिलाओं को पहचानने में लगे हैं। क्या यह 'हमारी' आत्मनिष्ठ जरूरत भर है या इसके 'हमारी' जरूरत बन जाने के कुछ महत्त्वपूर्ण वस्तुनिष्ठ आधार भी हैं? निश्चित रूप से अस्मिताओं की नई आधारशिलाओं की आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ जरूरतें हैं। क्या हमारे समय में आत्मनिष्ठ यथार्थ और वस्तुनिष्ठ यथार्थ एक दूसरे का हिंसक विलोम रचते हैं या एक ही यथार्थ की दो अभिव्यक्तियाँ बनते हैं? इसका जबाव हमारे विवेक के विनियोग और कौशल पर निर्भर करता है। आखिर एक ही टहनी पर एवं एक दूसरे के सहमेल में विकसित और अभिव्यक्त होते हैं विरोधी गुण-धर्मवाले फूल और काँटे! क्या 'अस्मिता' के तय होने में नकार या निषेध की भूमिका सकार और स्वीकार से अधिक महत्त्वपूर्ण होती है? अस्मिता में नकार और निषेध तो होता है। क्योंकि इसकी जरूरत ही किसी बड़े नकार और निषेध से लड़ने के लिए पड़ती है। लोहे की तलवार का मुकाबला काठ की तलवार से तो नहीं हो सकता है! कोशिश की ही जा सकती है कि इसके सकरात्मक प्रभाव जीवन पर पड़ें। 'अस्मिताओं' को तयशुदा बनाना क्या अनिवार्यत:सांप्रदायिक मनोभाव के लिए नये सिरे से एक स्पेस तैयार करने जैसा है? जी हाँ। 'अस्मिताओं' को तयशुदा बनाना खतरनाक है। अस्मिताएँ जड़ और अंतिम नहीं, गतिमान और अनंतिम होती हैं! एक ध्रुवीय, एक केंद्रीय एक रेखीय और एक आधरीय तो कभी नहीं। अस्मिताओं की गतिमानताओं में बेहद आंतरिक लोच और दृढ़ता का होना जरूरी है। अस्मिताओं के संदर्भ में इस तरह के कई लघुउत्तरीय प्रश्न उठते रहते हैं, उठ सकते हैं, जिनके जवाब ढूढे जाने की जरूरत है। यहाँ यह साफ करना जरूरी है कि जवाब देने की हैसियत नहीं होने पर भी जबाव के महत्त्व को समझने की छोटी-सी कोशिश जरूर

है और यह कोशिश ना-काफी चाहे जितनी हो, ना-हक तो नहीं है। ये जवाब किसी भी रूप में अनंतिम ही हैं। कहना न होगा कि सभ्यता विमर्श के कोने-अंतरे में इस तरह के सवालों के जवाब ढूढ़ने की अनाहत प्रक्रिया जारी रहती है। यह एक असमाप्य प्रक्रिया है। एक असमाप्य प्रक्रिया से हासिल कोई भी जवाब अंतिम नहीं होता है। यह जानते हुए बहुत ही विनम्रता और एक तरह के निश्छल विश्वास के साथ ही इस दिशा में कुछ सोचने का साहस किया जा सकता है। विनम्रता यह कि कोई मंजिल नहीं होती इस राह में, बस सफर ही सफर है। विश्वास यह कि इस सफर में कुछ 'हम सफर भी' हैं, 'हम' अकेले नहीं हैं।

उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण के दौर में प्रत्येक स्थानिकता, सामाजिकता, जातीयता और राष्ट्रीयता के प्रसंग नये सिरे से उठ रहे हैं। 'भारत की खोज' देश के पहले प्रधानमंत्री आदरणीय जवाहरलाल नेहरू ने की थी। कहा और समझाया जाता है कि भ्ष्टाचार, अत्याचार, कालेधन के पहाड़ के पीछे से नये और शक्तिशाली भारत का उदय हो रहा है! दुनिया के सबसे बड़े लोकतंत्र के तिमिराच्छन्न आकाश में उदित हो रहे इस नये सूर्य की नई लालिमा की झनकार को नहीं सुन पानेवाला, भारत उदय की इस नई भाषा को नहीं पढ़ पानेवाला सांस्कृतिक निरक्षर तो है ही, राष्ट्र-द्रोही भी है! राष्ट्र-प्रेमियों को यह बात सावधानीपूर्वक समझनी चाहिए कि इस उदय की विज्ञापनी आभा के पीछे विकास के नेपथ्य में भारत अस्त के अंधकार का हाहाकार धीरे-धीरे महाघोष में बदलता जा रहा है। वह कौन सांस्कृतिक महा-साक्षर है जो इस क्रूर आवाज को सचमुच नहीं सुन पा रहा है! संस्कृत के एक श्लोक के अनुसार सभ्यता विपर्य के समय सबसे पहले साक्षर वर्ण-विपर्य का शिकार होता है–- साक्षर सबसे पहले राक्षस में बदल जाता है। हाँ, यह हकीकत है कि जिस भारत को पाने के लिए 20वीं सदी शहीदों और देश-प्रेमियों की अनंत कुर्बानियों की साक्षी रही है वह भारत, हाथ आकर भी, अब कहीं खोता जा रहा है। इसलिए भी नये सिरे से भारतीयता की खोज आज की ऐतिहासिक जरूरत है। क्योंकि, 'भारतीयता की खोज आज के संदर्भ दो दृष्टियों से आवश्यक हैं। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद देश में एक सांस्कृतिक अराजकता व्याप्त हो गई है। स्वदेश और स्वदेशी की भावनाएँ, अशक्त होती जा रही हैं। हम बेझिझक पश्चिम का अनुकरण कर अपनी अस्मिता खोते जा रहे हैं। यह प्रवृत्ति एक छोटे, पर प्रभावशाली, तबके तक सीमित है, पर उसका फैलाव हो रहा है। यदि इसे हमने बिना बाधा बढ़ने दिया तो हमें परंपराओं की संभव ऊर्जा से वंचित होना पड़ेगा और हमारी स्थिति बहुत कुछ त्रिशंकु जैसी हो जायेगी। दूसरा कारण और भी महत्त्वपूर्ण है। संस्कृति आज की दुनिया में एक राजनीतिक अस्त्र के रूप में उभर रही है, न्यस्त स्वार्थ, जिसका उपयोग खुलकर अपने उद्देश्यों के लिए कर रहे हैं। उन पर रोक लग

सकती है, यदि हम निष्ठा और प्रतिबद्धता से भारतीयता की तलाश करें।'[12] जिन कारणों से भारतीयता की खोज महत्त्वपूर्ण है, ठीक उन्हीं कारणों से हिंदीयता (अन्य राष्ट्रीयताएँ / उपराष्ट्रीयताएँ भी पढें) – 'हमारी अस्मिता'– की खोज भी जरूरी है। 'जड़ों' और 'पहचान' के मुद्दों को 'कर्मभूमि' (जीने-मरने और कुछ कर गुजरने की जगह) से दृढ़तापूर्वक जोड़े बिना समझा नहीं जा सकता है। इसलिए, अपने महाक्षेत्र की विभिन्न लघुजातीयताओं, सामुदायिकताओं, सामाजिकताओं, भाषिकताओं, धार्मिकताओं, पंथों और अंतर्क्षेत्रीयताओं या जनपदीयताओं के अंतर्मेल से संपुष्ट और समर्थित अंतर्मिलापी 'हिंदीयता' और 'भारतीयता' की इस खोज में सावधान संस्कृतिकर्मियों की संगठित भूमिका के महत्त्व को बार-बार और अलग-अलग कोणों से समझना होगा। खासकर तब, जबकि 'वे लोग' इतिहास को तोड़-मरोड़ कर भारतीयता की खोज के लिए 'जड़ों' और 'पहचान' के मुद्दों को 'कर्मभूमि' के किसी भी प्रसंग से काटकर 'पितृभूमि' (पुरखों के जन्म की जगह) और 'पुण्यभूमि' (धर्म के उद्भव की जगह) के ही हवाले से हल कर लेना चाहते हैं। कहना न होगा कि आज के इस ऐतिहासिक प्रस्थान-बिंदु पर सावधान संस्कृतिकर्मियों की संगठित भूमिका का महत्त्व कितना बढ़ गया है! क्या हम इसके लिए तैयार हो रहे हैं! उत्तर चाहे जो हो, चलते-चलते चंद्रकांत देवताले से उस औरत का पता तो पूछते चलें, जिस औरत के बारे में वे कहते हैं कि,

'वह औरत
आकाश और पृथ्वी के बीच
कब से कपड़े पछीट रही है,
पछीट रही है शताब्दियों से
धूप के तार पर सुखा रही है,
वह औरत आकाश और धूप और हवा से
वंचित घुप्प गुफा में
कितना आटा गूँध रही है ?
गूंध रही है मनों सेर आटा
असंख्य रोटियाँ
सूरज की पीठ पर पका रही है,

एक औरत
दिशाओं के सूप में खेतों को फटक रही है

एक औरत
वक्त की नदी में
दोपहर के पत्थर से
शताब्दियाँ हो गई
एड़ियाँ घिस रही है,

एक औरत अनंत पृथ्वी को
अपने स्तनों में समेटे
दूध के झरने बहा रही है,
एक औरत अपने सिर पर
घास का गट्ठर रखे
कब से धरती को
नापती ही जा रही है,

एक औरत अंधेरे में
खर्राटे भरते आदमी के पास
निर्वसर जागती
शताब्दियों से सोई है,
एक औरत का धड़
भीड़ में भटक रहा है
उसके हाथ अपना चेहरा ढूढ़ रहे हैं
उसके पाँव जाने कब से
सबसे
अपना पता पूछ रहे हैं।'[13]

==================

1 पाब्लो नेरूदा: रुको, ओ पृथ्वी: स्पानी मूल से हिंदी अनुवाद- प्रभाती नौटियाल: साहित्य अकादेमी

2 सुमित सरकार : आधुनिक भारत : 1885 - 1905 : सामाजिक एवं राजनीतिक आंदोलन

3 सुमित सरकार : आधुनिक भारत : 1905-1917 राजनीतिक एवं सामाजिक आंदोलन

4 एस अबिद हुसैन : भारत की राष्ट्रीय संस्कृति (अनुवाद:दुर्गाशंकर शुकल) नेशनल बुक ट्रस्ट /1987

5 Gail Omvedt : Ambedkar and After: The Dalit Movement in India: Social Movements and the State, Edit. Ghanshyam Sahah (Sage Pub.2002)

6 . Gail Omvedt : Ambedkar and After: The Dalit Movement in India: Social Movements and the State, Edit. Ghanshyam Sahah (Sage Pub.2002)

7 . Dr. Babasaheb Ambedkar : Revolution and Counter Revolution in Ancient India: Writings and speeches, Volume 3 (Bombay Govt of Maharashtra, 1987)
8 डॉ. नामवर सिंह : स्वाधीनताः शारदीय विशेषांक 2001
9 डॉ. नामवर सिंह : स्वाधीनताः शारदीय विशेषांक 2001
10 डॉ. नामवर सिंह : स्वाधीनताः शारदीय विशेषांक 2001
11 डॉ. नामवर सिंह : स्वाधीनताः शारदीय विशेषांक 2001
12 प्रो. श्यामाचरण दुबे : समय और संस्कृति : भारतीयता की तलाश
13 चंद्रकांत देवताले : औरत : लकड़बग्घा हँस रहा है